A Pratibha Spandan's Journal

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

# नाट्यशास्त्र में अभिनय की परंपरा और सिद्धांत: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन।

**Dr. Abhishek Bharti[1], Karan[2], Vineet Raina[3]**
[1] Assistant Professor, Department of Performing Arts (Theatre), Cluster University of Jammu
[2] Student, MPA (Theatre), Department of Performing Arts, Cluster University of Jammu
[3] Student, MA (Music), PG Department of Music, MAM PG College, Cluster University of Jammu

**सार**

*नाट्यशास्त्र, भारतीय नाट्यकला का सर्वप्रथम और सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसकी रचना भरतमुनि ने की थी। यह केवल रंगमंच की कला नहीं, बल्कि अभिनय, संगीत, नृत्य, नाट्यरचना, मंच सज्जा आदि सभी पक्षों का शास्त्रीय मार्गदर्शन देता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार, अभिनय रंगमंच का सबसे प्रमुख और अनिवार्य तत्त्व है। यह केवल कला नहीं, बल्कि जीवन की सजीव प्रस्तुति है। नाट्यशास्त्र में अभिनय शब्द को अभि + नी + यच्च् के संधिविच्छेद के माध्यम से उसे परिभाषित किया गया है जिसमे 'अभी' का अर्थ है सामने और 'नय' का अर्थ है ले जाना। अर्थात सामने बैठे दर्शकों तक नाटककार के आलेख को सम्प्रेषित करने की कला का नाम अभिनय है। अभिनय नाट्यकला की आत्मा है, जो रंगमंच पर लेखक की कल्पना को जीवन्त बनाता है। अभिनय केवल अनुकरण या नकल नहीं है, बल्कि वह प्रक्रिया है जिसमें कलाकार अपने भीतर के अनुभवों, भावनाओं और चेतना को सम्पूर्ण शारीरिक, वाचिक और मानसिक साधनों से दर्शकों के सामने अभिव्यक्त करता है।*

*मुख्य शब्द: नाट्यशास्त्र, अभिनय, नाट्यकला।*

## प्रस्तावना

भारतीय रंगमंच की परंपरा विश्व की प्राचीनतम रंग परंपराओं में से एक है। इसमें नाट्यशास्त्र की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र न केवल नाट्यकला का ग्रंथ है बल्कि एक सामाजिक-दार्शनिक ग्रंथ भी है, जो भारतीय जीवन शैली, कला, संस्कृति, आचार-विचार और भावनाओं का समग्र प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र में अभिनय को नाट्य की आत्मा माना गया है जिसका सबसे प्रमुख तत्त्व अभिनेता और उसकी कला अभिनय है। भरत ने स्पष्ट रूप से कहा है:

"नाट्यं भिन्नरसं दृष्ट्वा लोको विकृतमानसः।

हर्षशोकभयं मोहमाविशन्ति न जानतः॥"

अर्थात् रंगमंच के माध्यम से सामान्य जन भी उन अनुभवों से गुजरते हैं जो केवल जीवन में विशेष स्थितियों में ही आते हैं। यह तभी संभव है जब अभिनय प्रभावी और सम्पूर्ण हो।

## नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति

भरतमुनि ने ब्रह्मा से नाट्यवेद की रचना का वर्णन इस प्रकार किया है कि जब सतयुग समाप्त हुआ और त्रेता युग आरंभ हुआ, तब संसार में अधर्म, लोभ, मोह, हिंसा और अन्य दुर्गुण बढ़ने लगे। मनुष्यों का मानसिक और नैतिक पतन होने लगा। जब चारों वेदों के ज्ञान को एक ही माध्यम से समाज को सिखाने की आवश्यकता पड़ी, तब देवताओं के परामर्श से देवराज इंद्र ने ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि वे कोई ऐसा साधन निर्मित करें जिससे जनमानस को शिक्षा, प्रेरणा, मनोरंजन और धर्म का मार्गदर्शन मिल सके। तब ब्रह्मा ने इंद्र देव के आग्रह पर चारों वेदों से ज्ञान लेकर एक "पंचम वेद" की रचना की जिसे नाट्यवेद कहा गया। इसमें:

- ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद),
- सामवेद से गान/संगीत,
- यजुर्वेद से अभिनय (शारीरिक हाव-भाव),
- और अथर्ववेद से रस/भावना ली गई।

A Pratibha Spandan's Journal

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

इसके बाद ब्रह्मा ने इस नाट्यवेद को भरतमुनि को सौंपा और उन्हें निर्देश दिया कि वे इसका अभ्यास कर इसे मनुष्यों और देवताओं के समक्ष प्रस्तुत करें। भरतमुनि ने अपने सौ पुत्रों/शिष्यों और नृत्यांगना अप्सराओं के साथ इसका मंचन किया। कहने का तात्पर्य यह है की नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति एक दैविक प्रेरणा से हुई थी, जिसका प्रमुख उद्देश्य लोकमंगल था।

"ऋग् साम यजुर् अथर्वभ्यो वेदानां नाट्यमुत्थितम्।"

अर्थात् नाट्यशास्त्र का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं, बल्कि शिक्षण, सांस्कृतिक जागरूकता और समाज में संतुलन बनाए रखना है। इसमें 37 अध्याय और लगभग 6000 श्लोक हैं जिनमें अभिनय, संवाद, संगीत, आंगिक गति, आहार्य प्रस्तुति और सात्त्विक भावों का विस्तृत निरूपण है। यह ग्रंथ आज भी भारतीय रंगमंच, शास्त्रीय नृत्य और अभिनय की आधारशिला बना हुआ है।

## अभिनय की परिभाषा

नाट्यशास्त्र में "अभिनय" शब्द 'अभि' उपसर्ग में नी धातु और यच प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ है, "दर्शक के सम्मुख कथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि वह सहज भाव से ग्रहण कर ले"। अर्थात अभिनय वह कला है जिसके माध्यम से अभिनेता दर्शक तक लेखक के उद्देश्य, भाव और कथा को संप्रेषित करता है। लेकिन अभिनय का प्रयोग केवल शब्दों तक सीमित नहीं है, वह दृष्टि, गति, मुद्रा, लय, संवाद, मौन, तनाव, चेष्टा और अंतर्मन की संवेदना का भी माध्यम है।

अरस्तू के वाक्य आर्ट इस ऐन इमीटेशन ऑफ़ लाइफ से शुरू करें तो acting is believing, acting is behaving, acting is reacting, acting is doing जैसे कई वाक्य मिल जाएँगे जिनमे अभिनय को संज्ञा दी गई है। पर सबसे सटीक संज्ञा शायद नाट्यशास्त्र में ही मिलती है जिसके अनुसार

"तीनो लोकों में उपस्थित देवतागण, मनुष्य, जीवजन्तु, आदि द्वारा कहे गए कथन को मंच पर भावों द्वारा प्रस्तुत करना अभिनय है"

इस वाक्य का अगर ध्यानपूर्वक अध्यन करें तो इसमें रंगमंच के सभी तत्वों का समावेश मिलता है और वे हैं सर्वप्रथम आलेख (नाटककार), अभिनय (अभिनेता), मंच(रंगमंडप), प्रस्तुति और दर्शक गण। अर्थात ऐसा कहना ग़लत नहीं होगा कि अभिनय किसी व्यक्ति द्वारा पहले से जिए और भोगे हुए अनुभवों को पुनः जीने का नाम है।

## अभिनय के भेद

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरतमुनि ने अभिनय को चार भेदों में विभाजित किया है:

### (क) आंगिक अभिनय

परिभाषा: नाट्यशास्त्र में वर्णित चार प्रकार के अभिनय में से पहला और सबसे महत्वपूर्ण प्रकार है। आसान भाषा में अगर कहें तो यह वह अभिनय है जो शरीर के अंगों द्वारा किया जाता है। आंगिक अभिनय में कलाकार अपने शरीर की गतिविधियों से भाव, विचार और मनोभावों की अभिव्यक्ति करता है। इसी कारण शरीर को अभिनय का प्रमुख साधन माना गया है। भरतमुनि ने अभिनय को प्रभावशाली और व्यवस्थित बनाने के लिए शरीर को तीन भागों अंग, प्रत्यंग और उपांग में विभाजित किया है। उनके अनुसार जब अभिनेता अपने शरीर के अंगों, उपांगों और प्रत्यंगों के माध्यम से भावों को प्रकट करता है, उसे आंगिक अभिनय कहते हैं।

**1 मुख्य अंग:** अभिनय में जिन मुख्य अंगों का प्रयोग होता है उन्हें अंग कहा जाता है। ये शरीर के वे बड़े हिस्से हैं जो भावों की प्रस्तुति में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। जैसे

शिर, हस्त, वक्ष, पृष्ठम्, कटि, पादौ आदि

**2. प्रतिआंग:** अंगों से जुड़े हुए सहायक अंग जिन्हें चलाकर अंगों की अभिव्यक्ति को सुंदर और प्रभावी बनाया जाता है। ये अंग मुख्य अंगों की गति और भंगिमा को सहारा देने या उसे पूरक करने का कार्य करते हैं। जैसे

ग्रीवा, पाणि, जानु, जंघा, कुरपर, अंस, हस्तांगुलियाँ

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

**3. उपांग / सूक्ष्म अंग:** वे सूक्ष्म और छोटे अंग जो चेहरे और सिर के भाग में होते हैं और भाव-भंगिमा की बारीकियों को दर्शाते हैं। उपांग अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि इन्हीं के माध्यम से सूक्ष्म भावों जैसे श्रृंगार, करुणा, भय, हास्य आदि को सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे

नेत्र, भ्रू, नासिका, ओष्ठ, दन्त, जिह्वा, चिबुक, ललाट

अब प्रश्न यह उठता है कि भरत नें सर्वप्रथम अंगिक को ही क्यों चुना, वाचिक, आहार्य या सात्विक को क्यों नहीं, और इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि नाटक जिसे दृश्य काव्य भी कहा जाता है, वह सर्वप्रथम दृश्य है फिर काव्य। अगर किसी अभिनेता के पास पूरे नाटक में बोलने के लिए एक भी शब्द नहीं है, तो वो बिना बोले अपने हाव भाव द्वारा भी अपनी बात या पूरा दृश्य दर्शकों तक संप्रेषित कर सकता है।

**चित्राभिनय**

यहां पर चित्राभिनय का परिचय देना अत्यंत आवशयक है जिसकी व्याख्या भारत अलग से करते हैं । "चित्र" का अर्थ है चित्र या दृश्य और "अभिनय" का अर्थ है अभिव्यक्ति, अतः चित्राभिनय का उद्देश्य शरीर की भाषा से दर्शकों के मन में एक सजीव दृश्य की रचना करना होता है। यह आंगिक अभिनय का ही एक उन्नत रूप है, जिसमें संवाद या भाव-भंगिमा पर अत्यधिक निर्भरता न होकर संप्रेषण शरीर की लयात्मकता से होता है। चित्राभिनय का प्रयोग ऋतु, समय, स्थान, पशु-पक्षियों की गतिविधियाँ, या किसी पात्र की मानसिक अवस्था को दर्शाने के लिए किया जाता है। जैसे—हाथों की मुद्राओं से आकाश का विस्तार दिखाना, शरीर की गति से हवा की तीव्रता या वर्षा का आभास कराना। यह विधा दर्शकों के लिए एक दृश्य-काव्य प्रस्तुत करती है, जिसमें शब्द नहीं, शरीर बोलता है। यह अभिनय की गूढ़ता का प्रतीक है, जहाँ कलाकार दृश्य को मूर्त रूप देकर दर्शक की कल्पना को जगाता है। चित्राभिनय, नाट्यशास्त्र की उसी परंपरा को आगे बढ़ाता है, जहाँ "सर्वं शरीरं नाट्याय" अर्थात् सम्पूर्ण शरीर नाटक का साधन बन जाता है।

## (ख) वाचिक अभिनय

परिभाषा: वाचिक अभिनय भारतीय नाट्यशास्त्र में वर्णित चार प्रमुख अभिनय शैलियों में से एक है। जैसा की नाम से ही विदित होता है यह संवाद, वाणी, भाषा, स्वर, छंद, उचारण, एवं गीत आदि का अभिनय है।वाचिक अभिनय, नाटक या प्रदर्शन कला में भावों की मुखर अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। अर्थात् "जब अभिनेता अपनी वाणी, स्वरों, छंदों और भाषा के माध्यम से भावों और चरित्र की प्रस्तुति करता है, तो उसे वाचिक अभिनय कहा जाता है।"

वाचिक अभिनय के अंतर्गत संवाद, कथन-शैली, भाषा, व्याकरण, छंद, काकु (स्वर का आरोहावरोह), शमन, दीपन और काव्यशास्त्र सभी कुछ आता है और इस वाचिक अभिनय का वर्णन नाट्यशास्त्र में मिलता है। जैसा कि सर्वविदित है प्राचीन संस्कृत नाटकों में संवाद अधिकांशतः पद्यात्मक होते थे। आज यथार्थवादी संवाद भले ही पद्यात्मक न हों, लेकिन मंच पर जब कुशल अभिनेता अपने भावातिरेक को प्रगट करता है तब उसका वक्तव्य अतुकांत कविता ही बन जाता है और उसमें भी एक लय होती है। इसलिए नाटकों के संवादों में केवल शब्दों का चयन ही नहीं, उनको बोलने का ढंग भी महत्वपूर्ण है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भरत ने काकु, विराम और वाक्य-विन्यास का सूक्ष्म विवेचन किया है।

भरत ने वाचिक अभिनय के छः रूप बताए हैं

1. पद : जैसा कि नाम से प्रकट है, नाना अर्थ और रस से परिपूर्ण सरल गद्य और पदय में रचित पाठ पद कहलाता है।

2. सूचा : पहले शारीरिक अभिनय के द्वारा किसी भाव को व्यक्त करना फिर शब्दों के द्वारा उसकी व्याख्या करना। इसका प्रयोग नृत्य और संगीत में होता है

3. अंकुर : नर्तक द्वारा पदों का अर्थ केवल आंगिक अभिनय के द्वारा व्यक्त करना।

4. शाखा : संवाद बोलते समय सिर, मुख और हाथ-पैर आदि अंगों की मुद्राओं का प्रयोग करना।

5. नाट्यायित : नाटक के प्रारंभ में परिचय के रूप में सूत्रधार का वक्तव्य देना।

6. निवृत्यांकुर : एक पात्र का संवाद बोलना और दूसरे पात्र का उसे नृत्य की मुद्राओं में ढालना।

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

इस विश्लेषण से यह कहना ग़लत नहीं होगा की अभिनय में जितना महत्व अंगिक का है उतना ही वाचिक का भी है। यह अभिनय का वह पक्ष है जो दर्शकों के मन तक सीधे पहुँचता है और जिसके बिना मंच पर प्रस्तुत कोई भी चरित्र अधूरा और निर्जीव रह जाएगा।

### (ग) आहार्य अभिनय

आहार्य अभिनय नाट्यशास्त्र में वर्णित अभिनय के चार मुख्य प्रकारों में से एक है। भरत ने नाट्यशास्त्र के 20 वें अध्याय में आहार्य अभिनय अर्थात् वेशभूषा प्रसाधन और रंगोपकरण के विषय में विस्तार से चर्चा की है।

परिभाषा: आहार्य का शाब्दिक अर्थ है—"धारण करने योग्य", अर्थात् वह वस्तुएँ जिन्हें पहनकर या प्रयोग में लाकर अभिनेता अपने चरित्र की सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्थिति को प्रकट करता है। इसमें रंग-रचना, वेशभूषा, आभूषण, रूपसज्जा, मंच सज्जा, हथियार, प्रतीकात्मक वस्तुएँ और साहिब (संपत्ति) आदि का समावेश होता है। उदाहरण स्वरूप, एक राजा की भूमिका निभाने वाले पात्र के सिर पर मुकुट, रेशमी वस्त्र, तलवार और सिंहासन उसके ऐश्वर्य और अधिकार का प्रतीक होते हैं। वहीं एक तपस्वी की भूमिका में जटाजूट, मृगचर्म और कमंडलु उसके वैराग्य और साधना को प्रकट करते हैं।

भरतमुनि के अनुसार, आहार्य अभिनय केवल बाह्य रूप सज्जा नहीं, बल्कि वह माध्यम है जिसके द्वारा पात्र की सामाजिक स्थिति, जातीय पहचान और मनोवृत्ति तक को प्रभावी रूप से दर्शाया जाता है। यह दर्शक के लिए उस पात्र की पहली पहचान बनाता है और प्रस्तुति में यथार्थ का संचार करता है। इस प्रकार आहार्य अभिनय, नाट्य की दृश्य-भाषा का अनिवार्य अंग है। नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय की संरचना को चार मुख्य भागों में बाँटा गया है: पुस्त, अलंकार, अंगरचना, और सजीव। ये चारों तत्व किसी पात्र की बाहरी अभिव्यक्ति को संपूर्ण बनाते हैं और दर्शकों के लिए उसकी पहचान को स्पष्ट करते हैं।

पुस्त- इस शैली से ही मंच विधान पूरा होता है। इसमें मंच उपकरणों जैसे विमान, ध्वज , दंड आदि कई सारे सांकेतिक पुस्त (मॉडल) हम मंच पर ला सकते हैं जिनसे नाट्य में कलात्मकता और यथार्थता आती है।

भरतमुनि ने आहार्य अभिनय के चार विभाग किए हैं: पुस्त, अलंकार, अंगरचना और संजीव। पुस्त जैसी विधि के द्वारा ही रंगमण्डप का दृश्य विधान पूरा हो पाता है, जिससे नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक यथार्थता मिल पाती है। आचार्य भरत के अनुसार-

> ''शैलयान विमानानि चर्म कर्मध्वज नगाः।
> यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञितः।।''

अर्थात् इस विधि के द्वारा ही रंगभूमि पर शैल, यान, रथ, सभी विमान, हाथी, ध्वजा एवं दण्ड आदि अनेक लौकिक पदार्थों के सांकेतिक पुस्तों (माडलों) के माध्यम से रंगमंच पर सारुप्य का सृजन होता है। सारूप सृजन के उचित संयोजन द्वारा ही नाट्य में कलात्मकता और यथार्थता का आभास होता है।

पुस्त विधि के तीन रूप हैं -सन्धिम, व्याजिम, और वेष्टिम।

1. संधिम- विभिन्न वस्तुओं को बाँधकर या जोड़कर रंगमंचीय वस्तु की रचना को सन्धिम कहते हैं। संधिम का भाव ही होता है जोडना या बाँधना। संधिम विधि के द्वारा विभिन्न वस्तुओं को परस्पर बाँध या जोड़कर रंगोपयोगी वस्तु की रचना की जाती है।

> ''किलिज चर्म वस्त्राघैर्यद्र पू क्रियते बुधैः।
> संधिमो नाम विज्ञेय पुस्तोनाटक संश्रयः।।''
>
> (नाट्यशास्त्र 21/7)

अर्थात् जब बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा नाट्य में तलवार, चमड़े के वस्त्र, अस्त्र-शस्त्र आदि वस्तुओं का प्रयोग अभिनय में किया जाता है, तब उसे 'संधिम' नामक नाट्य रूप माना जाता है। इससे नाट्य में बाँस, भूर्ज-पत्र, चमड़ा, वस्त्र, लोह तथा बाँस की पत्तियों आदि से अपेक्षित वस्तुओं की रचना की जाती है। प्रस्तर-शिलाएँ, प्रासाद, दुर्ग, वाहन, विमान, रथ, घोड़ों और हाथियों को भी संधिम के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है।

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

2. व्याजिम- रंगमंच पर मशीनों या यांत्रिक साधनों की सहायता से जिन वस्तुओं को चलाया या विशेष प्रभाव के साथ प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें व्याजिम कहते हैं।

उदाहरणार्थ: नाट्य प्रयोग में रंगमण्डप पर रथ, विमान या नाव को कृत्रिम रूप से चलाना और गति देना व्याजिम का उदाहरण है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार इन भौतिक पदार्थों को सूत्र के माध्यम से आगे-पीछे आकर्षित कर उनमें कृत्रिम गति उत्पन्न की जा सकती है।

3. वैष्टिम- जब रंगमण्डप पर उपयोग की जाने वाली वस्तुओं को कपड़े, चमड़े आदि से ढककर या लपेटकर तैयार किया जाता है, तो उसे वैष्टिम कहते हैं। इस विधि में वस्तुओं को सजाकर या आवरण देकर मंच के उपयोग योग्य बनाया जाता है।

उदाहरणार्थ: कपड़े और बाँस की सहायता से नकली हाथी या पहाड़ बनाकर मंच पर दिखाना वैष्टिम का उदाहरण है। जहां आचार्य धनिक ने ऐसे यंत्र निर्मित हाथी के प्रयोग का संकेत किया है वहीं महाकवि भास रचित प्रतिज्ञायोगन्धरायण में योगन्धरायण द्वारा ऐसे हाथी की रचना का संकेत मिलता है। ऐसे ही महाकवि शूद्रक कृत मृच्छकटिक और महाकवि कालिदास रचित शाकुन्तल में रथ और वाहनों का प्रयोग रंगमंच पर ही किया गया है। बालरामायण के राजशेखर ने पुतली सीता की परिकल्पना इसी शैली में की है। संभव है इसी पुस्तविधि के प्रयोग द्वारा इन भौतिक पदार्थों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता हो। संभव है बहुत प्राचीन काल में यह विधि प्रयोग में नही लाई जाती होगी। उसके स्थान पर चित्र रचना द्वारा ही इन वस्तुओं को प्रस्तुत कर दृश्यविधान को पूर्णता प्रदान की जाती हो और बाद में इस विधि का विकास हुआ हो। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में छत्र, मुकुट, इन्द्रध्वज, श्रृंगार, ध्वजा और व्यंजन आदि नाना प्रकार के शुभसंकेतक एवं नाट्योपयोगी पदार्थों की सूची प्रस्तुत की गई है। ये सब पुस्तविधि द्वारा ही संपादित होतीं हैं। इसी प्रकार गति विधान के प्रसंग में शैल, यान और विमान आदि के अतिरिक्त राजा, मंत्री, नृपत्नी तथा समाज के विभिन्न स्तरों के पात्रों के लिए सिंहासन, देवासन, मुण्डासन, कुशासन, काष्ठासन और मयूरासन आदि का जो विधान किया गया है, उन सबकी रचना पुस्तविधि द्वारा ही सम्भव हो पाती है।

''न भेद्यं नैव च छैद्यं न प्रहर्तव्यमेव तत्।
रंग प्रहरणैः कार्य संज्ञामात्रं तु कारयेत्।।''

(नाट्यशास्त्र, 21/218-226)

इस श्लोक का अर्थ है: न तो वास्तव में किसी को भेदा जाए, न काटा जाए और न ही वास्तव में प्रहार किया जाए। रंगमंच पर केवल कृत्रिम अस्त्र-शस्त्रों द्वारा उसका संकेत मात्र प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अर्थात् नाट्य प्रस्तुति में वास्तविक हिंसा नहीं दिखाई जाती, बल्कि अभिनय और मंचीय उपकरणों के माध्यम से उसका केवल आभास कराया जाता है।

भरत मुनि अच्छी तरह जानते थे कि सोना और अन्य कीमती धातुएँ हर समय आसानी से उपलब्ध नहीं होतीं। इसलिए उन्होंने रंगमंच पर असली वस्तुओं जैसा प्रभाव पैदा करने के लिए बाँस के पत्ते, लाख, घास-फूस, अभ्रक और मधु आदि पदार्थों के उपयोग की बात कही। इन चीजों के लेप और सजावट से मंच पर वस्तुओं को वास्तविक जैसा दिखाया जाता था। पुस्तविधि से भरत मुनि की रचनात्मक और व्यावहारिक रंगमंचीय सोच दिखाई देती है। उन्होंने इसके नियम बताए, लेकिन अंतिम निर्णय और प्रयोग की स्वतंत्रता नाट्याचार्य (निर्देशक) की समझ और बुद्धिमत्ता पर छोड़ दी।

## अलंकार

अलंकार शब्द का शाब्दिक अर्थ है अलंकृत करना। इस प्रकार रंगमंच पर प्रस्तुत अभिनेताओं के शरीर पर पहने जाने वाले आभूषण और वस्त्र आदि द्वारा जो मनोहारी दृश्य उत्पन्न होता है उसे ही भारत ने अलंकार की संज्ञा दी है। भरत के अनुसार पात्रों का श्रृंगार मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है— माला धारण, आभूषण पहनना और वेश-विन्यास।

### 1. मालाधारण

भरत ने पात्रों द्वारा पहनी जाने वाली माला, वस्त्र और सजावटी सामग्री को अलंकार की संज्ञा दी है। भरत ने मालाधारण के भी पाँच प्रकार बताए हैं— वेष्टित, वितत, संघात्य, ग्रथित और प्रलंबित। उन्होंने इनके नाम तो बताए हैं, लेकिन विस्तार से वर्णन नहीं किया।

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

**2. आभूषण**

नाट्यशास्त्र में शरीर पर पहने जाने वाले आभूषण चार प्रकार के बताए गए हैं:

- आवेध्य – जिन्हें शरीर को छेदकर पहना जाता है, जैसे कान के कुण्डल और नाक के आभूषण।
- बन्धनीय – जिन्हें बाँधकर पहना जाता है, जैसे केयूर और बाजूबंद।
- दोप्य – जिन्हें सीधे पहना जाता है, जैसे नूपुर आदि।
- आरोप्य – जिन्हें गले में धारण किया जाता है, जैसे हार और हेमसूत्र।

भरत का कहना है कि आभूषणों का प्रयोग पात्र के भाव और रस के अनुसार होना चाहिए। दुःख या शोक की स्थिति में आभूषण नहीं पहनने चाहिए। आभूषण हल्के और कृत्रिम होने चाहिए तथा बहुत अधिक आभूषणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

**3. वेश-विन्यास**

वेश-विन्यास से पात्र की जाति, देश और स्थिति का पता चलता है। भरत ने विद्याधरी, यक्षिणी, अप्सरा, नागपत्नी, ऋषिकन्या और देवकन्याओं के अलग-अलग प्रतीकात्मक वेश बताए हैं।

उनके अनुसार पुरुष पात्रों का वेश भी उनके देश, जाति और अवस्था के अनुसार निर्धारित किया जाना चाहिए। जैसे जैसे पात्र के भाव और परिस्थितियाँ बदलेंगी उसके वेश में भी परिवर्तन होगा।

**अँगरचना**

जैसे की नाम से ही विदित है, अँगरचना शब्द दो शब्दों के मेल से बना है, अँग और रचना। आहार्य अभिनय में पुस्त (मंच सामग्री) और आभूषणों के बाद अंगरचना का विशेष महत्व होता है जिसके अंतर्गत अंगों की रचना जिसमें केश सज्जा, मुख सज्जा, रूप सज्जा आदि का प्रतिपादन किया जाता है। इसमें अभिनेता अपने चेहरे और अंगों को रंगों व रेखाओं द्वारा सजाकर पात्र की भावना, चरित्र और समय को अभिव्यक्त करता है। पात्र का रूप बदलने के बाद ही अभिनेता राम, रावण, दुर्योधन आदि पात्रों का अभिनय प्रभावशाली ढंग से कर पाता है और दर्शक भी उसे उसी रूप में स्वीकार करते हैं।

भरतमुनि ने अंगरचना के लिए चार मुख्य प्राकृतिक रंग बताए हैं:

1. रक्त (लाल) 2. नील (नीला) 3. पीत (पीला) 4. श्वेत (सफेद)

इन्हीं रंगों के मिश्रण से अन्य कई रंग बनाए जाते हैं।

नाट्यशास्त्र में अंगरचना के अंतर्गत पुरुषों की दाढ़ी-मूँछ और बालों की सजावट का भी वर्णन मिलता है। जिसे आचार्य भरत द्वारा श्मश्रु कर्म (दाढ़ी-मूँछ और केश विन्यास) की संज्ञा दी गई है। इसके चार प्रकार बताए गए हैं—

1. शुद्ध 2. विचित्र 3. श्याम 4. रोमश

इनका प्रयोग पात्र के देश, आयु और स्थिति के अनुसार किया जाता है।

1. शुद्ध श्मश्रु: इसमें सिर के बाल बहुत कम या बिल्कुल नहीं होते। इसका प्रयोग ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, मंत्री, पुरोहित और दीक्षित पुरुषों के लिए किया जाता है।

2. विचित्र श्मश्रु: इसमें बालों को आकर्षक ढंग से सजाया जाता है। इसका उपयोग राजा, राजकुमार, श्रृंगारप्रिय और युवा पात्रों के लिए होता है।

3. श्याम श्मश्रु: इसका प्रयोग दुखी, तपस्वी, व्रतधारी या संकटग्रस्त पात्रों के लिए किया जाता है।

4. रोमश श्मश्रु: यह ऋषि, तपस्वी और लंबे समय तक व्रत रखने वाले पात्रों के लिए प्रयुक्त होता है।

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

इस प्रकार श्मश्रु-विधान केवल बाहरी सजावट नहीं, बल्कि पात्र की सामाजिक, धार्मिक और मानसिक स्थिति को भी प्रकट करता है।

**सजीव**

मंच पर जीव जंतुओं या प्राणी आदि को प्रस्तुत करने की विधि को आचार्य भारत द्वारा सजीव की संज्ञा दी गई है। उधारणार्थ विभिन्न प्राणियों जिनमें सर्प, मृग शावक, सिंह शावक अथवा पक्षी आदि को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए पात्र अपने आप को सिर से पाँव तक ढक कर अपने असली रूप को छिपा लेता है और और अंकित रूप को दर्शकों के सामने रखता है, जिनमे मुकुट आदि भी प्रयोग किये जा सकते हैं और जिसे यथार्थ रूप देने में आंगिक और वाचिक का भी विशेष महत्व होता है। भरतमुनि के अनुसार इसमें सर्प आदि को अपद यानी बिना पैरों वाले, पक्षी और मनुष्य को द्विपद यानी दो पैरों वाले तथा ग्राम्य और वन्य पशुओं को चतुष्पद यानी चार पैरों वाले माना गया है। इन जीव-जंतुओं को रंगमंच पर उनकी अनुकृति (नकल या प्रतीकात्मक प्रस्तुति) के आधार पर दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए, अभिज्ञानशाकुंतलम् में कण्व ऋषि के आश्रम से विदा होती हुई शकुंतला की साड़ी से हिरण हिरण्यशावक प्रेमवश लिपट जाता है। इसी प्रकार इसी नाटक के सातवें अंक में शकुंतला का पुत्र भरत सिंह शावकों के दाँत गिनता हुआ दिखाई देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आहार्य अभिनय किसी चरित्र की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम है। लेकिन इसके लिए वास्तविक वस्तुओं का अनावश्यक प्रयोग करने से बचना चाहिए। भरत नें आहार्य में उपयुक्त सभी तत्वों के बारे में विस्तार से जानकारी दी है पर वो ये हमेशा कहते हैं कि रंगमंच जीवन की कभी भी हूँ ब हूँ अनुकृति नहीं हो सकता, इसलिए मंचीय प्रस्तुति में अभिनेता से अलग जो भी सामग्री या उपकरण सहज रूप से उपलब्ध हों, पहनने में हल्का हो पर देखने में एकदम असली का प्रभाव पैदा करे उन्हीं उपकरणों के माध्यम से पात्र का रूपांकन और दृश्य संयोजन किया जाना चाहिए।

## (घ) सात्त्विक अभिनय

सत्व का अर्थ है सार अथवा सारांश, इस दृष्टि से आंगिक वाचिक और आहार्य का सार या सारांश सात्विक में निहित है। इसीलिए सात्विक अभिनय को नाट्यशास्त्र का अत्यंत सूक्ष्म और महत्वपूर्ण पक्ष माना गया है। भरत के अनुसार सात्विक अभिनय किसी भाव या संवेदना का केवल बाह्य प्रदर्शन नहीं, बल्कि उस भावना को स्वयं अनुभूत करके दर्शक तक पहुँचाने की प्रक्रिया है। यह तभी प्रभावी होता है जब अभिनेता अपने भीतर उस भाव की तीव्रता को आत्मसात कर लेता है। यह अभिनय की सर्वोच्च अवस्था है जिसमें भाव आंतरिक रूप से व्यक्त होते हैं। अंगिक, वाचिक और आहार्य के संयोग से जिस सामान्य अभिनय का चित्रा बनता है वो जब अपनी पूरी सूक्ष्मता और गहराई से रंगमंडप पर प्रस्तुत किया जाता है तो वह सात्विक अभिनय कहलाता है।

"सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः॥"

(नाट्यशास्त्र 22/2)

अर्थात, जिस अभिनय में सत्त्व (आंतरिक भाव, संवेदना और मनोभावों की सच्चाई) अधिक होता है, वह अभिनय श्रेष्ठ माना जाता है। जिसमें सत्त्व सामान्य या संतुलित हो, वह मध्यम कहलाता है, और जिसमें सत्त्व का अभाव हो, वह अधम (निम्न स्तर का) माना जाता है।

इसीलिए भरत ने अभिनेता के लिए आठ प्रकार के सात्विक भावों का उल्लेख किया है जिनमें :

स्तंभ (स्थिरता), स्वेद (पसीना), रोमांच (रोम खड़ा होना), स्वरभंग (आवाज़ टूटना), वेपथु (काँपना), वैवर्ण(चेहरा फीका पड़ना), अश्रु (आँसू), प्रलय(मृत सरीखा हो जाना)

ये भाव किसी कृत्रिम प्रयास से नहीं, बल्कि पात्र की अनुभूति में डूब जाने से उत्पन्न होते हैं। इसलिए सात्त्विक अभिनय को अभिनय कला की आत्मा माना जाता है। इन सभी सात्विक भावों के आधारभूत हम कह सकते हैं कि सात्विक अभिनय नाट्यशास्त्र में वर्णित चार प्रकार के अभिनय का सबसे गूढ़ और सूक्ष्म रूप है। यह अभिनय की वह अवस्था है जहाँ अभिनेता अपने अंतरमन की भावनाओं को इतनी प्रामाणिकता से अनुभव करता है कि वे स्वाभाविक रूप से शरीर पर प्रकट हो जाती हैं, बिना किसी बनावटी प्रयास के।

A Pratibha Spandan's Journal

HILL QUEST
(Multidisciplinary National Peer-Reviewed/Refereed Journal)
ISSN 2454-3144 (O) | Volume 13, Issue 01, January-June 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2026
http://hillquest.pratibha-spandan.org

भरतमुनि के अनुसार, जब किसी भाव की तीव्रता आत्मा तक पहुँच जाती है, तब वह 'सत्त्व' से उत्पन्न होकर शारीरिक लक्षणों में परिवर्तित होती है। इसी को सात्विक अभिनय कहते हैं। इस प्रकार सात्विक अभिनय अभिनेता की साधना, उसके हृदय की सच्चाई और संवेदनशीलता की पराकाष्ठा है। ये दर्शकों के साथ भावनात्मक जुड़ाव की सबसे प्रभावी विधा है, जो अभिनय को केवल दृश्य नहीं, बल्कि अनुभव बना देती है। नाट्य लोकजीवन का अनुकरण करता है, इसलिए उसमें सत्त्व का विशेष महत्व है। नाटक में पात्र द्वारा अभिनीत किए गए सुख-दुःख के भाव सच्चे और स्वाभाविक होने चाहिए, तभी रस की अनुभूति होती है। जब अभिनेता एकाग्र होकर पात्र के सुख-दुःख को अपना सुख दुख मान लेता है और उसी के अनुसार अभिनय करता है, तब दर्शकों को लगता है कि प्रस्तुत भाव वास्तव में पात्र के हैं, अभिनेता के नहीं। यही सात्त्विक अभिनय का मूल आधार है।

अतः भरत यह स्पष्ट करते हैं कि अभिनय का केवल एक अंग ही प्रभावी नहीं होता अपितु जब तक चारों प्रकारों का समन्वय एक साथ अभिनेता में ना हो तब तक एक प्रस्तुति प्रभावशाली नहीं हो सकती उधारणार्थ:वाणी के बिना शरीर मौन है, शरीर के बिना भावना अधूरी है, भावना के बिना वेश बेजान है। अतः जब आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिव्यक्ति एक साथ रंगमंडप पर आती हैं, तभी रस निष्पत्ति संभव होती है।

## निष्कर्ष

निस्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं की भारत की अभिनय पद्धति नाट्य प्रयोग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत पर आधारित है। नाट्यशास्त्र में वर्णित अभिनय केवल मंचीय तकनीक ही नहीं बल्कि जीवन की समग्र चेतना है। अभिनय के इस तात्त्विक विचार दर्शन का भाव यही है कि पात्र जिस अनुकार्य पात्र आदि की वेशभूषा धारण करता है वह नाट्य-प्रयोग काल तक के लिए उसी के व्यक्तित्व से अच्छादित हो जाता है।उसका अपनत्व जैसे-आत्मा एक देह को त्यागकर दूसरी देह में प्रवेश करते हुए प्रथम देह के सुख-दुखात्मक स्वभाव को त्यागकर दूसरी देह के सुख-दुःखात्मक प्रभाव को ग्रहण करती है, उसी प्रकार प्रयोक्ता पात्र नाट्य-प्रयोग काल में 'स्वभाव' को त्याग 'परभाव' को ग्रहण कर सामाजिकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य है, परन्तु आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक के संयोग से पात्र और प्रेक्षक दोनों के लिए ही यह सरलता से सम्पन्न हो जाता है। भरत मुनि का यह दृष्टिकोण आज भी भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के रंगकर्म में मार्गदर्शक है। अभिनय के चारों प्रकार – आंगिक, वाचिक, आहार्य, और सात्त्विक – भारतीय रंगमंच की जीवंत परंपरा के चार स्तंभ हैं। यह पद्धति केवल प्रस्तुति नहीं है यह दर्शन है, यह संवेदना है, और यही भारतीय रंग परंपरा की आत्मा भी है।

## संदर्भ ग्रंथ सूची

शुक्ल, बाबूलाल शास्त्री। श्री भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र। चौखंबा संस्कृत संस्थान।
दीक्षित, सुरेन्द्रनाथ। भारत और भारतीय नाट्य कला। राजकमल प्रकाशन।
त्रिपाठी, राधावल्लभ। भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा एवं रंगमंच।
अभिनवगुप्त एवं रामकृष्ण कवी, एम. (1934)। नाट्यशास्त्र।
कीथ, ए. बैरिडेल। संस्कृत नाटक: उद्भव, विकास, सिद्धांत और व्यवहार। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद। (1963)। नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
आनन्द महेश, अंकुर देवेन्द्र राज।रंगमंच के सिद्धांत। राजकमल प्रकाशन।
अंकुर देवेंद्र राज, दूसरे नाट्यशास्त्र की खोज। वाणी प्रकाशन।
महाकवि शुद्रक, मृच्छकटिक, राधाकृष्ण प्रकाशन
महाकवि कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम, राधाकृष्ण प्रकाशन
महाकवि राजशेखर विचरित, बालरामायण, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन